

भारत गाँवों का देश है । 'गाँवों के देश' के ये गाँव अपने अस्तित्व में आने के पीछे हजारों वर्षों तक अपनी आन्तरिकता में पूर्ण आत्म निर्भर एवं स्वतंत्र इकाई बने रहे । आठवीं शताब्दी की शुरुवात से लेकर बाद के वर्षों में जाने कितने विदेशी आक्राता यहाँ आये, शासन-सत्ता के क्षेत्र में जाने कितना उलटफेर हुआ, किन्तु गाँव अविचलित बने रहे । यह स्थिति कमोवेश अग्रज बर्णा के आने और व्यापारिक-राजनीतिक क्षेत्र में अपनी जड़ें जमा लेने तक बनी रहती हैं । उसके बाद की कहानी इन गाँवों के उत्पीड़न, दूटन और बिखराव की, दर्द भरी एक लम्बी दास्तान है ।

गौरांग प्रभुओं ने व्यापारिक क्षेत्र के विस्तार, तथा अधिकाधिक लाभ कमाने के लिहाज से यातायात के साधनों का भरसक विस्तार किया और यही से गाँवों का घनिष्ठ नगर-सम्पर्क जो शुरू हुआ तो उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया । आज स्थिति यह है कि गाँव का इतिहास, भूगोल, राजनीति और समाज, सब कुछ नगर के रंग में रंगा हुआ दिखाई दे रहा है ।

गाँधी जी स्वाधीन भारत में कुटीर उद्योगों के विकास के हिमायती थे किन्तु पंडित नेहरू की पश्चिमोन्मुखी दृष्टि भारी उद्योगों के विकास का सपना देख रही थी । परिणाम यह हुआ कि 'न खुदा ही मिला, ना विसाले सनम ।' 'कृषि प्रधान योजना' के नाम से प्रचारित 1951 की प्रथम पंचवर्षीय योजना से लेकर सन् 2002 की दसवीं पंचवर्षीय योजना तक में गाँव और कृषि-क्षेत्र की बात तो जोर-शोर से होती रही परन्तु वास्तविक विकास उद्योग और नगरों का ही हुआ । इस प्रक्रिया के चलते हमारे उद्योग भले ही आज भी विश्व उद्योग के सामने 'घुटुरवन' चल रहे हों, गाँव पूरी तरह से उखड़ गये - उजड़ गये ।

नगरीय सम्बन्ध-सम्पर्क के चलते गाँव को 'उजड़न', 'बिखरन' की ही दृष्टि से देखना कदाचित् एकांगी दृष्टिकोण होगा । इस नैकट्य के चलते यदि गाँव ने अपना बहुत कुछ खोया है तो कुछ प्राप्त भी किया है । यह बात अलग है कि 'खोने-पाने' के इस हिसाब में पलड़ा पहले का ही भारी रहा ।